क्रांतिधर्मी साहित्य - युग साहित्य - इक्कीसवीं सदी का मार्गदर्शक साहित्य

क्रान्तिधर्मी साहित्य-युग साहित्य नाम से विख्यात यह पुस्तकमाला युगद्रष्टा-युगसृजेता प्रज्ञापुरुष पं.श्रीराम शर्मा आचार्य जी द्वारा १९८९-९० में महाप्रयाण के एक वर्ष पूर्व की अवधि में एक ही प्रवाह में लिखी गयी है। प्रायः २० छोटी-छोटी पुस्तिकाओं में प्रस्तुत इस साहित्य के विषय में स्वयं हमारे आराध्य प.पू. गुरुदेव पं.श्रीराम शर्मा आचार्य जी का कहना था-"हमारे ये विचार, क्रान्ति के बीज हैं। ये थोड़े भी दुनियाँ में फैल गए, तो अगले दिनों धमाका कर देंगे। सारे विश्व का नक्शा बदल देंगे।....मेरे अभी तक के सारे साहित्य का सार हैं।.... सारे जीवन का लेखा-जोखा हैं।.... जीवन और चिंतन को बदलने के सूत्र हैं इनमें।.... हमारे उत्तराधिकारियों के लिए वसीयत हैं।.... अभी तक का साहित्य पढ़ पाओ या न पढ़ पाओ, इसे जरूर पढ़ना। इन्हें समझे बिना भगवान के इस मिशन को न तो तुम समझ सकते हो, न ही किसी को समझा सकते हो।.... प्रत्येक कार्यकर्त्ता को नियमित रूप से इसे पढ़ना और जीवन में उतारना युग-निर्माण के लिए जरूरी है। तभी अगले चरण में वे प्रवेश कर सकेंगे।.... यह इस युग की गीता है। एक बार पढ़ने से न समझ आए तो सौ बार पढ़ना और सौ लोगों को पढ़ाना। उनसे भी कहना कि आगे वे १०० लोगों को पढ़ाएँ। हम लिखें तो असर न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। जैसे अर्जुन का मोह गीता से भंग हुआ था, वैसे ही तुम्हारा मोह इस युग-गीता से भंग होगा।.... मेरे जीवन भर का साहित्य इस शरीर के वजन से भी ज्यादा भारी है। यदि मेरे जीवन भर के साहित्य को तराजू के एक पलड़े पर रखें और क्रांतिधर्मी साहित्य को दूसरे पलड़े पर, तो इनका वजन ज्यादा होगा।.... महाकाल ने स्वयं मेरी उँगलियाँ पकड़कर ये साहित्य लिखवाया है।.... इन्हें लागत मूल्य पर छपवाकर प्रचारित-प्रसारित (शब्दशः-अक्षरशः) करने की सभी को छूट है, कोई कापीराइट नहीं है।....मेरे ज्ञान शरीर को मेरे क्रान्तिधर्मी साहित्य के रूप में जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास करें।".....

जीवन साधना के स्वर्णिम सूत्र

लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि-मथुरा-२८१००३

मनुष्य को न तो अभागा बनाया गया है और न अपूर्ण। उसमें वे सभी क्षमताएँ बीज रूप में विद्यमान हैं, जिनके आधार पर अभीष्ट भौतिक एवं आत्मिक सफलताएँ प्रचुर मात्रा में प्राप्त की जा सकती हैं, आवश्यकता उनके समझने और उनके उपयोग करने की है।

सुधरें-सँभलें तो काम चले

प्रकृति अलमस्त बच्चे की तरह निरंतर अपने खेल–खिलवाड़ में लगी रहती है। पंचतत्त्वों के रेत–बालू को बटोरना, सँजोना, बढ़ाना–घटाना, बिगाड़ना बस यही उसके क्रिया–कलाप का केंद्र बिंदु है। बाजीगर का तमाशा देखने में अपनी सुध–बुध खो बैठने वाले मनचले दर्शकों की तरह लोग उस कौतुक–कौतूहल को देखने के लिए एकत्रित हो जाते हैं। हाथ की सफाई का कमाल उन्हें ऐसा सुहाता है कि कहाँ जाना था, क्या करना था, जैसे तथ्यों को भूल बैठते और बेतुकी कल्पनाओं में उड़ने–तैरने लगते हैं। इन प्रपंच–कौतुकों में मन भी सहायता देता है, रोने–हँसने तक लगता है।

यही है प्रकृति का प्रपंच, जिसमें आम आदमी बेतरह उलझा, उद्विग्न, खिन्न, विपन्न होते देखा जाता है। कभी–कभी तो इसे सिनेमा के पर्दे से प्रभावित होकर चित्र–विचित्र अनुभूतियों में तन्मय होते तक देखा जाता है। यद्यपि यह पूरा कमाल कैमरों का, प्रोजैक्टर का, एक्टर–डायरेक्टर का रचा हुआ जाल–जंजाल भर होता है, पर दर्शक तो दर्शक जो ठहरे, उन्हें पर्दे में रेंगती छाया भी वास्तविक दीखती है और इतने भर से आँसू बहाते, मुस्कराते, आक्रोश व्यक्त करते और आवेश में आते तक देखे गए हैं। ऐसे विचित्र हैं यह कौतुक–कौतूहल, जिसने समझदार कहे जाने वाले मनुष्यों को भी अपने साथ बेतरह जकड़–पकड़ रखा है।

इस दिवास्वप्न की प्रवंचना का पता तब चलता है, जब आँख खुलती है, नशे की खुमारी उतरती है और भगवान के दरबार में पहुँच कर सौंपे गए कार्य के संबंध में पूछ–ताछ की बारी आती है। इससे पूर्व यह पता ही नहीं चलता कि कितना गहरा भटकाव सिर पर हावी रहा और वह करता रहा, जिसे करने के लिए उन्माद–ग्रस्तों के अतिरिक्त और कोई कदाचित्

ही तैयार हो सकता है।

उलझने का नहीं सुलझने का प्रयास करें :

यही वह भूल–भुलैयों का भटकाव है, जिसे तत्त्वदर्शी प्रायः मायाजाल कहते और उससे बच निकलने की चेतावनी देते रहते हैं, पर उस दुर्भाग्य को क्या कहा जाए, जो मूर्खता छोड़ने और बुद्धिमत्ता अपनाने की समझ को उगने–उठने ही नहीं देता? सुर दुर्लभ मनुष्य–जीवन की दुःख भरी बर्बादी की यह पृष्ठभूमि है। आश्चर्य यह है कि शिक्षित, अशिक्षित, समझदार, बेअकल सभी अंधी भेड़ों की तरह एक के पीछे एक चलते हुए गहरे गर्त में गिरते और दुर्घटनाग्रस्त स्थिति में कराहते–कलपते अपना दम तोड़ते हैं।

अब आइए, जरा समझदारी अपनाएँ और समझदारों की तरह सोचना आरंभ करें। मनुष्य जीवन, स्रष्टा की बहुमूल्य धरोहर है, जो स्वयं को सुसंस्कृत और दूसरों को समुन्नत करने के दो प्रयोजनों के लिए सौंपा गया है। इसके लिए अपनी योजना अलग बनानी और अपनी दुनियाँ अलग बसानी पड़ेगी। मकड़ी अपने लिए अपना जाल स्वयं बुनती है। उसे कभी–कभी बंधन समझती है, तो रोती–कलपती भी है, किंतु जब भी वस्तुस्थिति की अनुभूति होती है, तो समूचा मकड़जाल समेट कर उसे गोली बना लेती और पेट में निगल लेती है। अनुभव करती है कि सारे बंधन कट गए और जिस स्थिति में अनेकों व्यथा–वेदनाएँ सहनी पड़ रही थीं, उसकी सदा–सर्वदा के लिए समाप्ति हो गई।

ठीक इसी से मिलता–जुलता दूसरा तथ्य यह है कि हर मनुष्य अपने लिए अपने स्तर की दुनियाँ अपने हाथों आप रचता है। उसी घोंसले में वह अपनी जिंदगी बिताता है। उसमें किसी दूसरे का हस्तक्षेप नहीं है। दुनियाँ की अड़चनें और सुविधाएँ तो धूप–छाँव की तरह आती–जाती रहती हैं। उनकी उपेक्षा करते हुए कोई भी राहगीर, अपने अभीष्ट पथ पर निरंतर चलता रह सकता है। किसी के भी बस में इतनी हिम्मत नहीं, जो बढ़ने वालों के पैर में बेड़ी डाल सके। भले या बुरे स्तर के आश्चर्यजनक

काम कर गुजरने वालों में से प्रत्येक की कथा–गाथा इसी प्रकार की है, जिसमें प्रतिकूल परिस्थितियों का झीना पर्दा उनने हटाया और वही कर गुजरे, जो उन्हें अभीष्ट था। मनुष्य बना ही उस धातु का है, जिसकी संकल्प भरी साहसिकता के आगे कभी भी कोई अवरोध टिक नहीं सका है और न कभी टिक ही सकेगा। इस युक्ति में परिपूर्ण सार्थकता है कि ''मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है।'' वही अपने हाथों गिरने के लिए खाई खोदता है और चाहे तो उठने के लिए समतल सीढ़ियों वाली मीनार भी चुन सकता है।

अपने को दीन–हीन, दयनीय, दरिद्र, अनगढ़, अभागा, बाधित समझने वालों को वस्तुतः यही अनुभव होता है कि वे दुरूह परिस्थितियों से जकड़े हुए हैं, किंतु जिनकी मान्यता यह है कि उनमें उठने और महानता की मंजिल तक जा पहुँचने की शक्ति है, वे प्रतिकूलताओं को अनुकूलता में बदल सकने में भी समर्थ होते हैं। उठने में सहायता करने का श्रेय किसी को भी दिया जा सकता है और गिरने में गिराने का दोषारोपण भी किसी पर भी किया जा सकता है, पर वस्तुस्थिति ऐसी है कि यदि अपने ही व्यक्तित्व और कर्तृत्व को ऊँचा उठाने और गिराने के लिए उत्तरदायी ठहराया जाए, तो यह मान्यता सबसे अधिक सही होगी।

गई–गुजरी स्थिति में रहने वालों की स्थिति पर आँसू बहाए जा सकें, तो अनुचित नहीं, उनकी सहायता करना भी मानवोचित कर्त्तव्य है, पर यह भुला नहीं दिया जाना चाहिए कि जब तक तथाकथित असहाय कहाने वालों का मनोबल न उठाया जाएगा, उनमें पुरुषार्थपूर्वक आगे बढ़ने का संकल्प न उभारा जाएगा, तब तक ऊपर से थोपी गई सहायता कोई चिरस्थाई परिणाम उत्पन्न न कर सकेगी। उत्कंठा का चुंबकत्व अपने आप में इतना शक्तिशाली है कि उसके सहारे निश्चित रूप से प्रगति का पथ–प्रशस्त किया जा सकता है। इस उक्ति को भी ध्यान में रखे ही रहना चाहिए कि ''ईश्वर मात्र उन्हीं की सहायता करता है, जो अपनी सहायता आप करते हैं।'' दीन–दुर्बलों को

तो प्रकृति भी अपनी मौत अपने आप मरने के लिए उपेक्षापूर्वक छोड़ती और मुँह मोड़कर अपनी राह चल पड़ती देखी गई है। शास्त्रकारों और आप्तजनों ने इस तथ्य का पग–पग पर प्रतिपादन किया है।

वेदांत विज्ञान के चार महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं–''तत्त्वमसि'', ''अयमात्मा ब्रह्म'', ''प्रज्ञानं ब्रह्म'', ''सोऽहम्''। इन चारों का एक ही अर्थ है कि परिष्कृत जीवात्मा ही परब्रह्म है। हीरा और कुछ नहीं, कोयले का ही परिष्कृत स्वरूप है। भाप से उड़ाया हुआ पानी ही वह स्रवित जल (डिस्ट्रिल वाटर) है, जिसकी शुद्धता पर विश्वास करते हुए उसे इंजेक्शन जैसे जोखिम भरे कार्य में प्रयुक्त किया जाता है। मनुष्य और कुछ नहीं, मात्र भटका हुआ देवता है। यदि वह अपने ऊपर चढ़े मल–आवरण और विक्षेप को, कषाय–कल्मषों को उतार फेंके, तो उसका मनोमुग्धकारी अतुलित सौंदर्य देखते ही बनता है। गाँधी और अष्टावक्र की दृश्यमान कुरूपता उनकी आकर्षकता, प्रतिभा, प्रामाणिकता और प्रभाव गरिमा में राई–रत्ती भी अंतर न डाल सकी। जब मनुष्य के अंतःकरण का सौंदर्य खुलता है, तो बाहरी सौंदर्य की कमी का कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

गीताकार ने इस तथ्य की अनेक स्थानों पर पुष्टि की है, वे कहते हैं–''मनुष्य स्वयं ही अपना शत्रु है और स्वयं अपना मित्र है'', ''मन ही बंधन और मोक्ष का एक मात्र कारण है''। ''अपने आप को ऊँचा उठाओ, उसे गिराओ मत।'' इन अभिवचनों में अलंकार जैसा कुछ नहीं है। प्रतिपादन में आदि से अंत तक सत्य ही सत्य भरा पड़ा है। एक आप्तपुरुष का कथन है–''मनुष्य की एक मुट्ठी में स्वर्ग और दूसरी मुट्ठी में नरक है। वह अपने लिए इन दोनों में से किसी को भी खोल सकने में पूर्णतया स्वतंत्र है।''

उसे जड़ में नहीं, चेतन में खोजें :

समझा जाता है कि विधाता ही मात्र निर्माता है। ईश्वर की इच्छा के बिना पत्ता नहीं हिलता। दोनों प्रतिपादनों से भ्रमग्रस्त न होना हो, तो उसके साथ ही इतना और जोड़ना

चाहिए कि उस विधाता या ईश्वर से मिलने–निवेदन करने का सबसे निकटवर्ती स्थान अपना अंतःकरण ही है। यों ईश्वर सर्वव्यापी है और उसे कहीं भी अवस्थित माना, देखा जा सकता है, पर यदि दूरवती भाग–दौड़ करने से बचना हो, तो अपना ही अंतःकरण टटोलना चाहिए। उसी पर्दे के पीछे बैठे परमात्मा को जी भर कर देखने की, हृदय खोलकर मिलने–लिपटने की अभिलाषा सहज ही पूरी कर लेनी चाहिए। भावुकता भड़काने या काल्पनिक उड़ानें उड़ने से बात कुछ बनती नहीं।

ईश्वर जड़ नहीं चेतन है। इसे प्रतिमाओं तक सीमित नहीं किया जा सकता। चेतना वस्तुतः चेतना के साथ ही, दूध पानी की तरह घुलमिल सकती है। मानवी अंतःकरण ही ईश्वर का सबसे निकटवर्ती और सुनिश्चित स्थान हो सकता है। ईश्वर दर्शन, साक्षात्कार प्रभु सान्निध्य जैसी उच्च स्थिति का रसास्वादन जिन्हें वस्तुतः करना हो, उन्हें बाहरी दुनियाँ की ओर से आँखें बंद करके अपने ही अंतराल में प्रवेश करना चाहिए और देखना चाहिए कि जिसको पाने, देखने के लिए अत्यंत कष्ट साध्य और श्रम साध्य प्रयत्न किए जा रहे थे, वह तो अत्यंत ही निकटवर्ती स्थान पर विराजमान–विद्यमान है। सरलता को कठिन बनाकर रख लेना, यह शीर्षासन लगाना भी तो मनुष्य की इच्छा और चेष्टा पर निर्भर है। अंतराल में रहने वाला परमेश्वर ही वस्तुतः उस क्षमता से संपन्न है, जिससे अभीष्ट वरदान पाना और निहाल बन सकना संभव हो सकता है। बाहर के लोग या देवता, या तो अंतःस्थिति चेतना का स्मरण दिला सकते हैं अथवा किसी प्रकार मन को बहलाने के माध्यम बन सकते हैं।

मंदिर बनाने के लिए अतिशय व्याकुल किसी भक्त ने किसी सूफी संत से मंदिर की रूपरेखा बना देने का अनुरोध किया। उसने अत्यंत गंभीरता से कहा, "इमारत अपनी इच्छानुरूप कारीगरों की सलाह से बजट के अनुरूप बना लो, पर एक बात मेरी मानो, उसमें प्रतिमा के स्थान पर एक विशालकाय

दर्पण ही प्रतिष्ठित करना, ताकि उसमें अपनी छवि देखकर दर्शकों को इस वास्तविकता का बोध हो सके कि या तो ईश्वर का निवास उसके लिए विशेष रूप से बने इसी काय कलेवर के भीतर विद्यमान है अथवा फिर यह समझें कि आत्मसत्ता को यदि परिष्कृत किया जाए, तो वही परमात्म सत्ता में विकसित हो सकती है। इतना ही नहीं वह परिष्कृत आत्मसत्ता, पात्रता के अनुरूप दिव्य वरदानों की अनवरत वर्षा भी करती रह सकती है।''

भक्त को कुछ का कुछ सुझाने वाली सस्ती भावुकता से छुटकारा मिला। उसने एक बड़ा हाल बनाकर सचमुच ही ऐसे स्थान पर एक बड़ा दर्पण प्रतिष्ठित कर दिया, जिसे देखकर दर्शक अपने भीतर के भगवान को देखने और उसे निखारने, उभारने का प्रयत्न करते रह सकें।

मनःशास्त्र के विज्ञानी कहते हैं कि मनःस्थिति ही परिस्थितियों की जन्मदात्री है। मनुष्य जैसा सोचता है, वैसा ही करता है एवं वैसा ही बन जाता है। किए हुए भले–बुरे कर्म ही संकट एवं सौभाग्य बनकर सामने आते हैं। उन्हीं के आधार पर रोने–हँसने का संयोग आ धमकता है। इसलिए परिस्थितियों की अनुकूलता और बाहरी सहायता प्राप्त करने की फिराक में घूमने की अपेक्षा, यह हजार दर्जे अच्छा है कि भावना, मान्यता, आकांक्षा, विचारणा और गतिविधियों को परिष्कृत किया जाए। नया साहस जुटाकर, नया कार्यक्रम बनाकर प्रयत्नरत हुआ जाए और अपने बोए हुए को काटने के सुनिश्चित तथ्य पर विश्वास किया जाए। बिना भटकाव का, यही एक सुनिश्चित मार्ग है।

अध्यात्म वेत्ता भी प्रकारांतर से इसी प्रतिपादन पर तर्क, तथ्य, प्रमाण और उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि मनुष्य अपने स्वरूप को, सत्ता एवं महत्ता को, लक्ष्य एवं मार्ग को भूलकर ही आए दिन असंख्य विपत्तियों में फँसते हैं। यदि अपने को सुधार लें, तो अपना सुधरा प्रतिबिंब व्यक्तियों और परिस्थितियों में झलकता चमकता दिखाई पड़ने लगेगा। यह संसार गुंबज की

तरह अपने ही उच्चारण को प्रतिध्वनित करता है। अपने जैसे लोगों का ही जमघट साथ में जुड़ जाता है और भली–बुरी अभिरुचि को अधिकाधिक उत्तेजित करने में सहायक बनता है। दुष्ट–दुर्जनों के इर्द–गिर्द ठीक उसी स्तर की मंडली–मंडल बनने लगते हैं। साथ ही यह भी उतना ही सुनिश्चित है कि शालीनता संपन्नों को, सज्जनों को, उच्चस्तरीय प्रतिभाओं के साथ जुड़ने और महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त कर सकने का समुचित लाभ मिलता है।

निकृष्टता से उबरें, महानता अपनाएँ :

बादल बरसते सभी जगह समान रूप से हैं, पर उनका पानी उतनी ही मात्रा में वहाँ जमा होता है, जहाँ जितनी गहराई या पात्रता होती है। वर्षा के अनुग्रह से व्यापक भू–क्षेत्र में हरियाली उगती और लहराती है, पर रेगिस्तानों और चट्टानों में एक तिनका तक जमता दृष्टिगोचर नहीं होता है, उसमें बादल का पक्षपात नहीं, भूमि की अनुर्वरता ही प्रमुख रूप से उत्तरदायी है।

धुलाई के बिना रंगाई निखरती कहाँ है ? गलाई के बिना ढलाई किसने कर दिखाई है ? मल–मूत्र से सने बच्चे को माता तब ही गोद में उठाती है, जब उसे नहला–धुला कर साफ–सुथरा बना देती है। मैला–गंदला पानी पीने के काम कहाँ आता है ? मैले दर्पण में छवि कहाँ दीख पड़ती है ? जलते अंगारे पर यदि राख की परत जम जाए, तो न उसकी गर्मी का आभास होता है, न चमक का। बादलों से ढक जाने पर सूर्य–चंद्र तक अपना प्रकाश धरती तक नहीं पहुँचा पाते। कुहासा छा जाने पर दिन में भी लगभग रात जैसा अँधेरा छा जाता है और कुछ दूरी की वस्तुएँ तक सूझ नहीं पड़तीं।

इन्हीं सब उदाहरणों को देखते हुए अनुमान लगाया जा सकता है कि मनुष्य यदि लोभ की हथकड़ियों, मोह की बेड़ियों और अहंकार की जंजीरों में जकड़ा हुआ रहे, तो उसकी समस्त क्षमताएँ नाकारा बनकर रह जाएँगी। बँधुआ मजदूर रस्सी में बँधे पशुओं की तरह बाधित और विवश बने रहते हैं।

वे अपना मौलिक पराक्रम गँवा बैठते हैं और उसी प्रकार चलने–करने के लिए विवश होते हैं, जैसा कि बाँधने वाला उन्हें चलने के लिए दबाता–धमकाता है। कठपुतलियाँ अपनी मर्जी से न उठ सकती हैं, न चल सकती हैं। मात्र मदारी ही उन्हें नचाता–कुदाता है।

कुसंस्कारों और कुप्रचलनों का दुहरा दबाव ही मनुष्य के मौलिक चिंतन का सही मार्ग अपनाने में भारी अवरोध बनकर खड़ा हो जाता है और उत्कृष्टता की दिशा में सहज संभव हो सकने वाली प्रगति, बुरी तरह अवरुद्ध होकर रह जाती है। अंतरात्मा ऊँचा उठने के लिए कहती है और सिर पर छाया हुआ दुष्प्रवृत्तियों का आकाश जितना विस्तृत नरक, नीचे गिरने के लिए बाधित करता है। फलतः मनुष्य त्रिशंकु की तरह अधर में ही लटका रह जाता है। यह असमंजस बना ही रहता है कि उसका क्या होगा ? भविष्य न जाने कैसा बन कर रहेगा ?

इस विषम विडंबना से छूटने का एक ही उपाय है कि दोष–दुर्गुणों की जो भारी चट्टानें सिर पर लदी हैं, उन्हें किसी भी कीमत पर हटाया–गिराया जाए, अन्यथा उतनी बोझिल विपन्नता को सिर पर लादे हुए, कुछ दूर तक भी आगे चल सकना संभव न होगा। वासनाएँ आदमी को नीबू की तरह निचोड़ लेती हैं। जीवन में से स्वास्थ्य, संतुलन, आयुष्य जैसा सब कुछ निचोड़ कर, उसे छिलके जैसा निस्तेज बनाकर रख देती हैं।

तृष्णाओं की खाई इतनी गहरी है, जिसे रावण, हिरण्यकशिपु, वृत्तासुर जैसे प्रबल पराक्रमी भी समूचा पौरुष दाँव पर लगा देने के बाद भी पाट सकने में तनिक भी समर्थ न हुए। सिकंदर जैसे सफलताओं के धनी भी मुट्ठी बाँधे आए और हाथ पसारे चले गए। अहंकार प्रदर्शित करने के दर्प में, संसार भर को चुनौती देने और ताल ठोकने वाले किसी समय के दुर्दांत दैत्यों में से अब कोई कहीं दीख नहीं पड़ता। राजाओं के मणि–मुक्तकों से जड़े राजमुकुट और

सिंहासन, न जाने धराशायी होकर कहाँ धूल चाट रहे होंगे ? यह करतूतें उन्हीं पैशाचिक दुष्प्रवृत्तियों की हैं, जो मनुष्य पर उन्माद की तरह छाई रहती हैं और उसकी बहुमूल्य जीवन–संपदा को कौड़ी के मोल गँवा देने के लिए दिग्भ्रमित करती रहती हैं।

स्वार्थ सिद्धि की ललक–लिप्सा वस्तुतः अनर्थ के अतिरिक्त और कुछ हाथ लगने नहीं देती। स्थिति उस जादुई राजमहल जैसी बन जाती है, जिसमें प्रवेश करने पर दुर्योधन को जल के स्थान पर थल और थल के स्थान पर जल दीखने लगा था। जो करना चाहिए, उसका निरंतर तिरस्कार–बहिष्कार ही होता रहता है और अपनी चतुरता की डींग हाँकने वाले निरंतर वह करते रहते हैं, जो नहीं ही करना चाहिए। इस मानसिकता को, व्यामोह का सम्मोहन नाम देने के अतिरिक्त और क्या कहा जाए? क्या यह दुर्गति और दुर्गंध से भरी दुर्दशा ही मानव जीवन की नियति है ?

जो हो, पर वास्तविकता यही है कि औसत आदमी इन्हीं परिस्थितियों में स्वेच्छापूर्वक या बाधित होकर रहने के लिए अभ्यस्त पाया जाता है। हानि को लाभ और लाभ को हानि समझने वालों के हाथ वैसी ही दुर्गति लग सकती है, जैसी कि अधिकांश लोगों के गले बँधी और छाती पर चढ़ी दिखाई देती है।

अचंभा यही है कि सड़े नालों में पलने और बढ़ने वाले कीड़े, अपनी स्थिति की दयनीयता का अनुभव तक नहीं कर पाते। उससे किसी प्रकार छुटकारा पाकर इतनी भी नई सोच जुटा नहीं पाते कि यदि कीड़े की ही स्थिति में रहना था, तो फूलों पर उड़ने वाली तितलियों की तरह आकर्षक होने के सुयोग को चाहने और पाने के लिए तो मानस बनाया जाए। जब आकांक्षा तक मर गई, तो उत्कर्ष की पक्षधर हलचलें भी कहाँ से, कैसे उभर सकेंगी ?

मानव जीवन का परम पुरुषार्थ, सर्वोच्च स्तर का सौभाग्य एक ही है कि वह अपनी निकृष्ट मानसिकता से त्राण पाए। भ्रष्ट

चिंतन और दुष्ट आचरण वाले स्वभाव–अभ्यास को और अधिक गहन करते रहने से स्पष्ट इंकार कर दे। भूल समझ में आने पर उल्टे पैरों लौट पड़ने में भी कोई बुराई नहीं हैं। गिनती गिनना भूल जाने पर दुबारा नए सिरे से गिनना आरंभ करने में किसी समझदार को संकोच नहीं करना चाहिए। जीवन सच्चे अर्थों में धरती पर रहने वाला देवता है। नर–कीटक, नर–पशु, नर–पिशाच जैसी स्थिति तो उसने अपनी मर्जी से स्वीकार की है। यदि वह काया–कल्प जैसे परिवर्तन की बात सोच सके, तो उसे नर–नारायण, महामानव बनने में भी देर न लगेगी। आखिर वह है तो ऋषियों, तपस्वियों, मनस्वियों और मनीषियों का वंशधर ही।

धर्म धारणा की व्यावहारिकता

शांति के साधारण समय में सैनिकों के अस्त्र–शस्त्र 'मालखाने' में जमा रहते हैं, पर जब युद्ध सिर पर आ जाता है, तो उन्हें निकाल कर दुरुस्त एवं प्रयुक्त किया जाता है, तलवारों पर नए सिरे से धार धरी जाती है। घर के जेवर आमतौर से तिजोरी या लॉकर में रख दिए जाते हैं, पर जब विवाह–शादी जैसे उत्सव का समय आता है, उन्हें निकाल कर इस प्रकार चमका दिया जाता है, मानों नए बनकर आए हों। वर्तमान युग संधि काल में अस्त्रों–आभूषणों की तरह प्रतिभाशालियों को प्रयुक्त किया जाएगा। व्यक्तित्वों को प्रखर प्रतिभा संपन्न करने के लिए यह आपत्तिकाल जैसा समय है। इस समय उनकी टूट–फूट को तत्परतापूर्वक सुधारा और सही किया जाना चाहिए।

अपनी निज की समर्थता, दक्षता, प्रामाणिकता और प्रभाव–प्रखरता एक मात्र इसी आधार पर निखरती है कि चिंतन, चरित्र और व्यवहार में उत्कृष्टता का अधिकाधिक समावेश हो। अनगढ़, अस्त–व्यस्त लोग गई–गुजरी जिंदगी जीते हैं। दूसरों की सहायता कर सकना तो दूर, अपना गुजारा तक जिस–तिस के सामने गिड़गिड़ाते, हाथ पसारते या उठाईगीरी करके बड़ी कठिनाई से ही कर पाते हैं, पर जिनकी प्रतिभा प्रखर है, उनकी विशिष्टताएँ मणि–मुक्तकों की तरह झिलमिलाती हैं, दूसरों को आकर्षित–प्रभावित भी करती हैं और सहारा देने में भी समर्थ होती हैं। सहयोग और सम्मान भी ऐसों के ही आगे–पीछे चलता है। बदलते समय में अनगढ़ों का कूड़ा–कचरा कहीं झाड़–बुहार कर दूर फेंक दिया जाएगा। बीमारियों, कठिनाइयों और तूफानों से वे ही बच पाते हैं, जिनकी जीवनी शक्ति सुदृढ़ होती है।

समर्थता को ओजस् मनस्विता को तेजस् और जीवट को वर्चस् कहते हैं। यही हैं वे दिव्य संपदाएँ, जिनके बदले इस संसार के हाट–बाजार से कुछ भी मनचाहा खरीदा जा सकता है। दूसरों की सहायता भी वे लोग ही कर पाते हैं, जिसके पास

अपना वैभव और पराक्रम हो। अगले दिनों ऐसे ही लोगों की पग–पग पर जरूरत पड़ेगी, जिनकी प्रतिभा सामान्यजनों की तुलना में कहीं अधिक बढ़ी–चढ़ी हो, संसार के वातावरण का सुधार वे ही कर सकेंगे, जिनने अपने आप को सुधार कर यह सिद्ध कर दिया हो कि उनकी सृजन–क्षमता असंदिग्ध है। परिस्थितियों की विपन्नता को देखते हुए उन्हें सुधारे जाने की नितांत आवश्यकता है, पर इस अति कठिन कार्य को कर वे ही सकेंगे, जिसने अपने व्यक्तित्व को परिष्कृत करके यह सिद्ध कर दिया हो, कि वे आड़े समय में कुछ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकने में सफल हो सकते हैं। इस स्तर को उपलब्ध कर सकने की कसौटी एक ही है–अपने व्यक्तित्व को दुर्गुणों से मुक्त करके, सर्वतोमुखी समर्थता से संपन्न कर लिया हो। सद्गुणों की संपदा प्रचुर परिमाण में अर्जित कर ली हो।

दूसरों को कैसा बनाया जाना चाहिए, इसके लिए एक मंडल विनिर्मित करना होगा। उपकरण ढालने के लिए तदनुरूप साँचा बनाए बिना काम नहीं चलता। लोग कैसे बनें ? कैसे बदलें? इस प्रयोग को सर्वप्रथम अपने ऊपर ही किया जाना चाहिए और बताया जाना चाहिए कि कार्य उतना कठिन नहीं है, जितना कि समझा जाता है। हाथ–पैरों की हरकतें इच्छानुसार मोड़ी–बदली जा सकती हैं, तो कोई कारण नहीं कि अपनी निज की प्रखरता को सद्गुणों से सुसज्जित करके चमकाया–दमकाया न जा सके।

पिछले दिनों किसी प्रकार आलस्य, प्रमाद, उपेक्षा और अनगढ़ता की स्थिति भी सहन की जाती थी, पर बदलते युग के अनुरूप अब तो हर किसी को अपने को नए युग का नया मनुष्य बनाने की होड़ लगानी पड़ेगी, ताकि उस बदलाव का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए, समूचे समाज को, सुविस्तृत वातावरण को बदल जाने के लिए प्रोत्साहित ही नहीं, विवश और बाधित भी किया जा सके।

काया–कलेवर जिसका जैसा ढल चुका है, वह प्रायः उसी आकार–प्रकार का रहेगा, पर गुण, कर्म, स्वभाव में अभीष्ट

उत्कृष्टता का समावश करत हुए एसा कुछ चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है, जिसके कारण इसी काया में देवत्व के दर्शन हो सकें। देवी–देवताओं की कमी नहीं, उन सब की पूजा–उपासना के अपने–अपने माहात्म्य बताए गए हैं, किंतु परीक्षा की कसौटी पर वह प्रतिपादन कदाचित् ही खरा उतरता है। भक्त–जन प्रायः निराशा व्यक्त करते और असफलता के लिए इस समूचे परिकर को ही कोसते देखे गए हैं। अपवाद स्वरूप ही किसी अंधे के हाथ बटेर लग पाती है, किंतु एक देवता ऐसा भी है, जिसकी समुचित साधना करने पर सत्परिणाम हाथों–हाथ नकद धर्म की तरह उपलब्ध होते देखे जा सकते हैं। वह देवता है–'जीवन' । इसका सुधरा हुआ स्वरूप ही कल्पवृक्ष है। अपना ऋद्धि–सिद्धियों से भरा भंडार लोग न जाने क्यों नहीं खोजते–खोलते और न जाने क्या कारण है कि घड़े में ऊँट खोजते–फिरते हैं ? अच्छा होता आत्मविश्वास जगाया गया होता, अपने को परिष्कृत कर लेने भर से हस्तगत हो सकने वाली संपदाओं और विभूतियों पर विश्वास किया गया होता।

प्राचीनकाल में सभी बच्चे स्वस्थ पैदा होते थे। तब उनको थोड़े से बड़े होते ही अखाड़ों में कड़ी कसरतें करने के लिए भेज दिया जाता था, पर अब स्थिति बदल गई है। अपंग, रुग्ण और दुर्बल पीढ़ी को अखाड़े नहीं भेजा जा सकता। उन्हें स्वास्थ्य रक्षा के सामान्य से नियमों से ही अवगत–अभ्यस्त कराना पर्याप्त होगा। आत्मबल, जिसमें सभी बलों का सहज समावेश हो जाता है, की उपलब्धि के लिए आध्यात्मिक प्रयोग–अभ्यास करने होते हैं। प्राचीन काल में वे तप, साधना और योगाभ्यासों से आरंभ होते थे, पर अब तो व्यक्तित्व की दृष्टि से विकृत पीढ़ी को अध्यात्म की आरंभिक साधनाएँ कराना ही पर्याप्त होगा। हाईस्कूल पास करने से पहले ही कॉलेज की योजना बनाना व्यर्थ है।

पंचशीलों का अभ्यास करें :

प्राचीनकाल में हर एक साधक को प्रारंभ में यम–नियम साधने पड़ते थे। उसके अंतर्गत सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय,

अपरिग्रह आदि की साधना अनिवार्य है। उस समय के सामाजिक वातावरण में वे सर्वसाधारण के लिए साध्य रहे होंगे, परंतु आज की स्थिति में वैसा संभव नहीं दीखता। अब तो व्यावहारिक पंचशीलों का परिपालन आदतों में सम्मिलित हो सके, तो भी काम चल जाएगा। श्रमशीलता, मितव्ययिता, शिष्टता, सुव्यवस्था और सहकारिता के पंचशील हमारे क्रिया–कलाप में पूरी तरह घुल–मिल सकें, तो समझना चाहिए कि प्राचीनकाल की तप–साधना के समतुल्य साधनात्मक साहस बन पड़ा।

१. आलस्य, प्रमाद, विलासिता, ठाट–बाट आदि के कारण आदमी बुरी तरह हरामखोर बन गया है। उपलब्ध शक्ति का एक चौथाई भाग भी उत्पादक श्रम में नियोजित नहीं हो पाता। निठल्लेपन में शारीरिक, मानसिक असमर्थता पनपती है। आर्थिक तथा दूसरी सभी प्रगतियों का द्वार बंद हो जाता है। श्रम के बिना शरीर निरोग एवं सशक्त भी नहीं रह सकता। श्रम के बिना उत्पादन भी संभव नहीं। समाज में विडंबनाएँ इसी कारण पनपती रही हैं कि नर–नारी श्रम न करने में बड़प्पन अनुभव करने लगे, कामचोरी, कम से कम श्रम करके अधिक से अधिक लाभ पाने की प्रवृत्तियाँ समाज को अपंग जैसा बनाए दे रही हैं।

इस भयंकरता को समझते हुए समय को तत्परता और तन्मयता भरे परिश्रम के साथ जोड़ कर दिनचर्या बनाई जाए, तो प्रतीत होगा कि उपलब्ध समय एवं साधनों में ही प्रगतिशीलता के साथ जुड़े हुए अनेकानेक सत्परिणाम उपलब्ध होते चले जाते हैं।

२. अपव्यय आज का दूसरा अभिशाप है। दुर्व्यसनों में, फैशन तथा सजधज जैसे आडंबरों में उतना समय और पैसा खर्च होता है कि उसे बचा लेने पर अपने तथा दूसरों के अनेक प्रयोजन सध सकते हैं। फिजूलखर्ची का कोई अंत नहीं। उसे किसी भी सीमा तक किया जा सकता है। उसकी ललक जब उभरती है, तो पूरा कर सकना साधारण श्रम, कौशल के लिए संभव ही नहीं हो पाता। तब बेईमानी, बदमाशी का आश्रय लिए

बिना काम नहीं चलता। इस अमीरी प्रदर्शन से कभी किसी को भले ही सम्मान मिलता रहा हो, पर अब तो उसके कारण ईर्ष्या ही उपजती है। उसके फलस्वरूप मात्र उसकी नकल बनाने या फिर नीचा दिखाने की प्रतिक्रिया दीख पड़ती है। ''सादा जीवन उच्च विचार'' वाली उत्कृष्टता का तो एक प्रकार से समापन ही होता जाता है। उदारता को चरितार्थ करने पर अवसर तो तब मिले, जब अपव्यय से कुछ बचे।

३. शिष्टता, सभ्यता की आधारशिला है और अशिष्टता, अनगढ़पन की सबसे बुरी प्रतिक्रिया है। दूसरों के असम्मान और अपने अहंकार के संयोग से ही ऐसी उद्दंडता उभरती है कि शिष्ट, मधुर, विनीत एवं सज्जनोचित व्यवहार करते ही नहीं बन पड़ता। यही प्रवृत्ति अशिष्टता बनकर उभरती है। उसे अपनाने वालों की छवि ही धूमिल होती है। इसके स्थान पर विनम्रता–सभ्यता का परिचय देना ही भलमनसाहत का प्रमुख चिह्न है। यह बरताव बड़ों के साथ ही नहीं छोटों के साथ भी उतनी ही तत्परतापूर्वक किया जाना चाहिए।

यह उक्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है कि ''शालीनता बिना मोल मिलती है, परंतु उससे सब कुछ खरीदा जा सकता है।'' शालीनता का जिन्हें अभ्यास है, उनके परिवार में कभी कलह नहीं होती, सौमनस्य का स्वर्गीय वातावरण बना रहता है। शालीन व्यक्ति के मित्र–सहयोगी अनायास ही बढ़ते चले जाते हैं, जब कि अशिष्ट व्यक्ति अपनों को भी पराया कर डालता है। जीवन की सफलता में शालीनता का असाधारण योगदान रहता है।

४. सुव्यवस्था का तात्पर्य है अपने समय, श्रम, मनोयोग, जीवनक्रम, शरीर, सामर्थ्य आदि सभी संबद्ध उत्पादनों का सुनियोजन। उन्हें इस प्रकार सँभाल–सँभाल कर सुनियोजित रखा जाना चाहिए कि उनको अस्त–व्यस्तता से बचाया जा सके और अधिकाधिक समय तक उनका समुचित लाभ उठाया जा सके। यह प्रक्रिया स्वभाव में सुव्यवस्था की दृष्टि रहने पर ही बन पड़ती है। लोक–व्यवहार का यह सबसे बड़ा सद्गुण है।

जिसे सँभालना, सदुपयोग करना, सुनियोजित रखना आ गया, समझना चाहिए कि उसे गुणवानों में गिना जाएगा। उसका लोहा सर्वत्र माना जाएगा। सुनियोजन ही सौन्दर्य है, उसी को कला–कौशल भी कहना चाहिए। मैनेजर, गवर्नर, सुपरवाइजर जैसे प्रतिष्ठित पदों का श्रेय उन्हीं को मिलता है, जो न केवल स्वयं को बल्कि अपने परिकर को भी सुव्यवस्था के अंतर्गत चलने, अनुशासन में रहने के लिए सहमत करते हैं। प्रगति का प्रमुख आधार यही है।

५. पाँचवाँ शील है–सहकारिता। मिल–जुलकर काम करना। आदान–प्रदान का उपक्रम बनाए रहने में सतर्कता बरतना। परिवार में, कारोबार में, लोक–व्यवहार में, सामंजस्य बनाए रह सकना तभी बन पड़ता है, जब उदारता भरी सहकारिता को अपने सभी क्रिया–कलापों में सुनियोजित रखा जा सके। जो एकाकीपन से ग्रसित है, उसे असामाजिक, उपेक्षित रहना पड़ता है और नीरसता, निराशा के बीच ही दिन गुजरता है। बदले में स्नेह, सहयोग, सम्मान पाने का अवसर उन्हें मिलता ही नहीं, जो संकीर्ण स्वार्थपरता से जकड़े, निष्ठुर प्रकृति के होते हैं।

बड़े कार्य संयुक्त शक्ति से ही संपन्न हो पाते हैं। देव शक्तियों के संयोग से दुर्गा के प्रादुर्भाव की कथा सर्वविदित है। संकीर्ण स्वार्थपरता के स्थान पर उदार सहकारिता की प्रवृत्ति जगाने से, वैसा अभ्यास बनाने से ही संघ शक्ति जागृत होती है। योग्य कार्यकर्त्ता होने पर भी सहकारिता के अभाव में न कोई संस्था पनप सकती है और न कोई व्यवसाय प्रगति कर सकता है।

उपरोक्त पाँच दुर्गुणों को यदि छोड़ा जा सके और उसके विपरीत सदाशयता की रीति–नीति को अपनाया जा सके, तो समझना चाहिए कि मानवी गरिमा के अनुरूप मर्यादा पालन बन पड़ा और हँसती–हँसाती, उठती–उठाती जिंदगी का रहस्य हाथ लगा। ऐसे ही लोग धन्य बनते और अपने समय, परिकर एवं वातावरण को धन्य बनाते हैं। व्यावहारिक धर्म–धारणा का परिपालन इतने सीमित सद्‌गुणों को क्रिया–कलापों का अंग

बना लेने पर भी सध जाता है।

इन सद्गुणों को अपने दृष्टिकोण, स्वभाव एवं अभ्यास में उतारने का सबसे अच्छा अवसर परिवार–परिकर के बीच मिलता है। यदि घर के आवश्यक कार्य परिवार–परिकर के सभी सदस्य साथ–साथ सहयोगपूर्वक निपटाया करें, उत्साह की प्रशंसा और उपेक्षा की भर्त्सना किया करें, तो इतने से ही स्वल्प परिवर्तन से, परिवार के हर सदस्य को सुसंस्कारी बनाने का अवसर मिल सकता है। परिवार संस्था ही नर–रत्नों की खदान बन सकती है। परिवार में सद्गुणों का अभ्यास जो करते हैं, उनके लिए यह तनिक भी कठिन नहीं रहता कि लोक व्यवहार में पग–पग पर शालीनता का परिचय दें और बदले में उत्साह भरी उपलब्धियों का पूरा–पूरा लाभ सहज ही प्राप्त करते रहें।

उच्च मानसिकता के चार सूत्र :

व्यवहार की धर्मधारणा और सेवा–साधना उपरोक्त सद्गुणों को जीवन में उतारने भर से बन पड़ती है। इसके अतिरिक्त दूसरा क्षेत्र मानसिकता का रह जाता है। उसमें चरित्र और भावनात्मक विशेषताओं का समावेश किया जा सके, तो समझना चाहिए कि लोक–परलोक दोनों को ही समुन्नत स्तर का बना लिया गया। चार वेद, चार धर्म, चार कर्म, चार दिव्य वरदान जिन्हें कहा जा सकता है, उन चार मानसिक विशेषताओं को– (१) समझदारी, (२) ईमानदारी, (३) जिम्मेदारी, (४) बहादुरी के नाम से समझा जा सकता है।

समझदारी का अर्थ है, तात्कालिक आकर्षण पर संयम बरतना, अंकुश लगाना और दूरगामी, चिरस्थाई, परिणतियों, प्रतिक्रियाओं का स्वरूप समझना, तदनुरूप निर्णय करना, उपक्रम अपनाना। चटोरेपन की ललक में लोग अभक्ष्य–भक्षण करते और कामुकता के उन्माद में शरीर और मस्तिष्क को खोखला करते रहते हैं। ऐसे ही दुष्परिणाम अन्य अदूरदर्शिताएँ उत्पन्न करते हैं। उन्हीं की प्रेरणा से लोग, अनाचार पर उतरते, कुकर्म करते और प्रताड़ना सहते हैं। अदूरदर्शिता के कारण ही लोग

मछली की तरह सामान्य से प्रलोभनों के लोभ में बहुमूल्य जीवन गँवा देते हैं। समझदारी यदि साथ देने लगे, तो इंद्रिय संयम, समय संयम, अर्थ संयम अपनाते हुए उन छिद्रों को सरलतापूर्वक रोका जा सकता है, जो जीवन संपदा को अस्त-व्यस्त करके रख देते हैं।

ईमानदारी बरतना सरल है, जबकि बेईमानी बरतने में अनेक प्रपंच रचने और छल-छद्म अपनाने पड़ते हैं। स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि ईमानदारी के सहारे ही कोई व्यक्ति प्रामाणिक और विश्वासी बन सकता है। उन्हीं को जन-जन का सहयोग एवं सम्मान पाने का अवसर मिलता है।

उत्कर्ष अभ्युदय के लिए इतना अवलंबन बहुत है, आगे की गतिशीलता तो अनायास ही चल पड़ती है। बेईमान वे हैं, जिन्होंने अपना विश्वास गँवाया और जिनकी मित्रता मिलती रह सकती थी, उन्हें अन्यमनस्क एवं विरोधी बनाया। बेईमान व्यक्ति भी ईमानदार नौकर रखना चाहता है। इससे प्रकट है कि ईमानदारी की सामर्थ्य कितनी बढ़ी-चढ़ी है। जिनकी प्रतिष्ठा एवं गरिमा अंत तक अक्षुण्ण बनी रहती है, उनमें से प्रत्येक को ईमानदारी की रीति-नीति ही सच्चे मन से अपनानी पड़ी है। झूठों की बेईमानी तो काठ की हाँड़ी की तरह एक बार ही चढ़ती है।

तीसरा भाव पक्ष है-जिम्मेदारी। हर व्यक्ति शरीर रक्षा, परिवार व्यवस्था, समाज निष्ठा, अनुशासन का परिपालन जैसे कर्त्तव्यों से बँधा हुआ है। जिम्मेदारियों को निबाहने पर ही मनुष्य का शौर्य निखरता है, विश्वास बनता है। विश्वसनीयता के आधार पर ही वह व्यवस्था बनने लगती है, जिसके अनुसार उन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारियाँ सौंपी जाएँ, प्रगति के उच्च शिखर पर जा पहुँचने का सुयोग खिंचता चला आए, लोग उन्हें आग्रहपूर्वक बुलाएँ और सिर माथे पर चढ़ाएँ। व्यक्तित्व जिम्मेदार लोगों का ही निखरता है। बड़े पराक्रम करते उन्हीं से बन पड़ता है।

चौथी आध्यात्मिक संपदा है-बहादुरी। हिम्मत भरी

साहसिकता, निर्भीक पुरुषार्थ–परायणता। जोखिम उठाते हुए भी उस मार्ग पर चल पड़ना, जो नीति–निष्ठा के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। बुराइयाँ संघर्ष के बिना जलती नहीं और संघर्ष के लिए साहस अपनाना अनिवार्य होता है। कायर, कृपण, डरपोक, दीन–हीन अक्सर इसीलिए अपने ऊपर आक्रमण और शोषण करने वालों को चढ़ दौड़ने के लिए न्यौत बुलाते हैं कि उनमें अनीति के आगे सिर न झुकाने की हिम्मत नहीं होती। दबने, बच निकलने और जैसे–तैसे मुसीबत टालने की वृत्ति जिनने अपनाई हुई होती है, वे किसी के द्वारा भी, कहीं भी, पीसे और दबोचे जाते हैं। ऐसे ही लोग हैं, जो दुष्टता के सामने भी सिर झुकाते और नाक रगड़ते देखे गए हैं। इतने पर भी उन्हें सुरक्षा मिल नहीं पाती। सभी जानते हैं कि बहादुर की अपेक्षा कायरों पर आततायियों के आक्रमण हजार गुने अधिक होते हैं। कठिनाइयों से पार पाने और प्रगति–पथ पर आगे बढ़ने के लिए साहस ही एक मात्र ऐसा साथी है, जिसको साथ लेकर मनुष्य एकाकी भी दुर्गम दीखने वाले पथ पर चल पड़ने एवं लक्ष्य तक जा पहुँचने में समर्थ हो सकता है।

पंचशील और चार वर्चस्, इस प्रकार यह नौ की संख्या युग धर्म के अनुरूप बैठती है। सौर मंडल के ग्रह नौ हैं। नवरत्न और ऋद्धि–सिद्धियाँ भी नौ की संख्या में ही प्रख्यात हैं। इन नौ गुणों में से, जो जितनों को जिस अनुपात में अपना सके, वे उतने ही बड़े ईश्वर भक्त और धर्मात्मा कहलाए। इन्हें यदि योगाभ्यास और तप–साधना कहा जाए, तो भी कुछ अत्युक्ति न होगी।

धर्म और कर्म में उतारी–अपनाई गई उत्कृष्टता–आदर्शवादिता ही प्रकारांतर से स्वर्ग जैसा उल्लास भरा मानस और जीवन मुक्ति जैसी तृप्ति, तुष्टि एवं शांति प्रदान कर सकने में हाथों–हाथ समर्थ होती है। उनके लिए देर तक किसी को भी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। किंवदंतियों के अनुसार मरने के उपरांत ही स्वर्ग मुक्ति जैसी उपलब्धियों को प्राप्त किया जा सकता है, किंतु यदि कल्पनाओं की उड़ान से नीचे उतर कर व्यावहारिक धर्म–कर्म में नौ सूत्री उत्कृष्टता का समावेश किया

जाए, तो जीवित रहते हुए भी स्वर्गीय अनुभूतियों और मुक्ति स्तर की विभूतियों का हर घड़ी रसास्वादन करते रहा जा सकता है। इतना ही नहीं, इन दो के अतिरिक्त एक और तीसरा लाभ भी प्राप्त किया जा सकता है। सिद्धियों के चमत्कार भी हस्तगत हो जाते हैं। सफलताएँ खिंचती हुई चली आती हैं और मनस्वी के पैरों तले लोटने लगती हैं।

सुनिश्चित राजमार्ग अपनाएँ :

देवता की पूजा–अर्चना के लिए पंचोपचार, षोडशोपचार नाम से जाने जाने वाले कर्मकांडों, क्रिया–कृत्यों का प्रयोग भक्तजन करते रहते हैं। इसके बदले उन्हें क्या मिला, उसका विवरण तो वे स्वयं ही बता सकते हैं, पर उपरोक्त साधनाओं को निश्चित रूप से विश्वासपूर्वक नवधा भक्ति के स्थान पर प्रतिपादित किया जा सकता है और देखा जा सकता है कि उसके सहारे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही क्षेत्रों में गरिमामय उपलब्धियों को सहज–सरलतापूर्वक हस्तगत कर लिया गया या नहीं ?

राजमार्ग पर चलने वाले भटकते नहीं। झाड़–झंखाड़ों में वे उलझते हैं, जिन्हें छलांग लगाकर तुर्त–फुर्त, बिना पुरुषार्थ का परिचय दिए ही बहुत कुछ पा लेने की ललक सताती है। आकुल–व्याकुल मनःस्थिति में आनन–फानन इंद्र जैसा वर्चस् और कुबेर जैसा वैभव कहीं से भी उड़ा लाने की मानसिकता ही लोगों को हैरान करती रहती है। ऐसे ही व्यक्ति साधना से सिद्धि के सिद्धांत पर लांछन लगाते और आरोप थोपते हुए देखे गए हैं। नौ गुणों का नौ सूत्रों वाला यज्ञोपवीत धारण करने की विधा इसी संकेत पर ध्यान केंद्रित किए रहने के लिए विनिर्मित की गई है कि पंच तत्त्वों से बनी, रक्त मांस, अस्थि जैसे पदार्थों से अंग–प्रत्यंगों को जोड़–गाँठ कर खड़ी की गई, इस मानव काया को यदि नौलखा हार से सुसज्जित करना हो, तो उन नौ गुणों को चिंतन, चरित्र, व्यवहार में–गुण, कर्म, स्वभाव में गहराई तक समाविष्ट किया जाए। उन्हें क्रिया–कलापों में अभ्यास में शामिल करने के लिए प्राण–प्रण से प्रयत्न करना चाहिए।

यह ऐसा काया–कल्प है जिसके लिए किसी बाहरी धन्वंतरि की मनुहार आवश्यक नहीं। यह च्यवन ऋषि जैसा पुनर्यौवन प्राप्त करने का सुयोग है, जिसके लिए अश्विनीकुमारों का अनुग्रह तनिक भी अपेक्षित नहीं। यह समूची उदात्तीकरण की, पशु को देवता बना देने वाली महान् उपलब्धि है, जिसे कभी ''द्विजत्व'' दूसरे जन्म के नाम से जाना जाता था। इसमें आकृति नहीं, प्रकृति भर बदलती है और मनुष्य जिस भी, जैसी भी स्थिति में रह रहा हो, उसे उसी क्षेत्र में वरिष्ठता की सहज उपलब्धि हो जाती है।

धर्म–धारणा को विभिन्न संप्रदायों और मत–मतांतरों ने भिन्न–भिन्न संख्याओं में गिनाया है और स्वरूप तथा प्रयोग अपनी–अपनी मान्यता के अनुरूप बताया–समझाया है, किंतु आज की स्थिति में जबकि अनेक थनों से दुहे गए दूध को सम्मिश्रित करके, एक ही मथनी से मथ कर, एक जैसी आकृति का, एक ही नाम वाला मक्खन निकालने की उपयोगिता–आवश्यकता समझी जा रही है, तो फिर उपरोक्त नौ रत्नों से जड़े गए हार को सर्वप्रिय एवं सर्वमान्य आभूषण ठहराया जा सकता है।

मिठाई–मिठाई रटते रहने और उनके स्वरूप–स्वाद का आलंकारिक वर्णन करते रहने भर से न तो मुँह मीठा होता है और न पेट भरता है। उसका रसास्वादन करने और लाभ उठाने का तरीका एक ही है, कि जिसकी भावभरी चर्चा की जा रही है, उसे खाया ही नहीं, पचाया भी जाए। धर्म उसे कहते हैं, जो धारण किया जाए। उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए कथा प्रवचनों को कहते–सुनते रहना भी कुछ कारगर न हो सकेगा। बात तो तभी बनेगी जब जिस प्रक्रिया का माहात्म्य कहा–सुना जा रहा हो, उसे व्यवहार में उतारा जाए। व्यायाम किए बिना कोई पहलवान कहाँ बन पाता है ? इसी प्रकार धर्म के तत्त्वज्ञान को व्यावहारिक जीवनचर्या में उतारने के अतिरिक्त और कोई विकल्प है नहीं।

कर्मकांडों के साथ भाव संवेदना का समावेश

ईश्वर को किसी ने देखा नहीं है और न वह सर्वव्यापी निराकार होने के कारण देखने की वस्तु है। उसकी प्रतीक–प्रतिमा तो इसलिए बनाई जाती है कि मानवी कलेवर में उत्कृष्टता की पक्षधर भाव–श्रद्धा को उस माध्यम से जोड़कर, परब्रह्म की विशिष्टताओं की परिकल्पना करना सर्वसाधारण के लिए सहज संभव हो सके। राष्ट्रध्वज में देश भक्ति की भाव श्रद्धा का समावेश करके उसे गर्व–गौरव के साथ फहराया और समुचित सम्मान प्रदान किया जाता है। उसी प्रकार सर्वव्यापी, न्यायनिष्ठ सत्ता का आरोपण प्रतिमा में करके, भाव–श्रद्धा को इस स्तर का सुविकसित बनाया जाता है कि वह सत्प्रवृत्तियों के समुच्चय परब्रह्म के साथ जुड़ सकने योग्य बन सके।

भगवान के दर्शन करने के लिए लालायित अर्जुन, काकभुसुंडि, यशोदा, कौशल्या आदि के आग्रह का जब किसी प्रकार समाधान होते न दीख पड़ा और साकार दर्शन का आग्रह बना ही रहा, तो उन्हें तत्त्वज्ञान की प्रकाश की प्रेरणा ने इस विशाल विश्व का ही विराट् ब्रह्म की प्रतिमा बताया। इस विराट् स्वरूप दर्शन का वर्णन–विवेचन, गीताकार ने आलंकारिक ढंग से समझाते हुए यह बताने का प्रयत्न किया है कि विश्वव्यापी उत्कृष्टता ही उपासना योग्य ईश्वरीय सत्ता है। यों तो उसे समस्त विश्व–ब्रह्मांड में एक नियामक सूत्र संचालक के रूप में जाना जा सकता है। उसे अनुशासन, संतुलन, सुनियोजन आदि के रूप में ही वैज्ञानिक दृष्टि से समझा जा सकता है। उसकी अनुभूति भाव श्रद्धा के रूप में ही हो सकती है। तन्मय और तद्रूप होकर ही उसे पाया जा सकता है।

अग्नि के साथ एकात्मता प्राप्त करने के लिए ईंधन को

आत्मसमर्पण करना पड़ता है और अपना स्वतंत्र अस्तित्व मिटाकर तद्रूप होने का साहस जुटाना पड़ता है। ईश्वर और जीव के मिलन की यही प्रक्रिया है। नाले को नदी में अपना विलय करना पड़ता है। पानी को दूध में घुलना पड़ता और वैसा ही स्वाद स्वरूप धारण करना पड़ता है, पति और पत्नी इस समर्पण की मानसिकता को अपनाकर ही द्वैत से अद्वैत की स्थिति में पहुँचते हैं। मनुष्य भी जब देवत्व से संपन्न होता है, तो देवता बन जाता है और जब उसमें परमात्मा जैसी व्यापकता ओत–प्रोत हो जाती है, तो आत्मा की स्थिति परमात्मा जैसी हो जाती है। उसमें बहुत कुछ उलट–फेर करने की अलौकिकता भी समाविष्ट हो जाती है। ऋषियों और सिद्ध पुरुषों को इसी दृष्टि से देखा–परखा और उन्हें प्रायः उसी आधार पर ही श्रेय–सम्मान दिया जाता है।

प्रतीक पूजा का तत्त्व–दर्शन :

विभिन्न मत–मतांतरों के अनुरूप विभिन्न प्रकार की पूजा पद्धतियाँ, क्षेत्र या संप्रदाय विशेष में प्रचलित पाई जाती हैं। उन सब के पीछे तथ्य और रहस्य एक ही काम करता है कि अपने आपे को परिष्कृत एवं सुव्यवस्थित बनाया जाए। यही ईश्वर की एक मात्र पूजा, उपासना और अभ्यर्थना है। विश्व व्यवस्था में निरंतर संलग्न परमेश्वर को, उतनी फुर्सत नहीं कि वह इतने भक्तजनों की मनुहार सुनने और चित्र–विचित्र उपहारों को ग्रहण करने में समय बिताया करे। यह सब तो मात्र अभ्यर्थना के माध्यम से, अपने आप को उत्कृष्टता के मार्ग पर चल पड़ने के लिए स्व–संकेत के रूप में रचा और किया जाता है।

ईश्वर पर न किसी की प्रशंसा का कोई असर पड़ता है और न निंदा का। पुजारी नित्य प्रशंसा के पुल बाँधते और नास्तिक हजारों गालियाँ सुनाते हैं। इनमें से किसी की भी बक–झक का उस पर कोई असर नहीं पड़ता। गिड़गिड़ाने, नाक रगड़ने पर भी चयन आयोग किसी को ऑफीसर नियुक्त नहीं करता। छात्रवृत्ति पाने के लिए नंबर लाने और प्रतिस्पर्द्धा जीतने से कम में किसी प्रकार भी काम नहीं चलता। ईश्वर की भी यही

सुनिश्चित रीति–नीति है। उसकी प्रसन्नता भी एक केंद्र–बिंदु पर केंद्रित है कि किसने उसके विश्व उद्यान को सुंदर समुन्नत बनाने के लिए कितना अनुदान प्रस्तुत किया। उपासनात्मक कर्मकांड इसी एक सुनिश्चित व्यवस्था को जानने–मानने के लिए किए और अपनाए जाते हैं। यदि कर्मकांड लकीर भर पीटने की तरह पूरे किए जाएँ और परमात्मा के आदेश–अनुशासन की अवज्ञा की जाती रहे, तो समझना चाहिए कि यह मात्र बाल–क्रीड़ा, खेल–खिलवाड़ ही है। उतने भर से किसी का कुछ भला होने वाला है नहीं।

देव पूजा के कर्मकांडों को प्रतीकोपासना कहते हैं, जिसका तात्पर्य है कि संकेतों के आधार पर क्रिया–कलापों को निर्धारित करना। देवता की प्रतिमा एक पूर्ण मनुष्य की परिकल्पना है, जिसके उपासक को भी हर स्थिति में सर्वांग सुंदर एवं नवयुवकों जैसी मनःस्थिति में बने रहना चाहिए। देवियाँ मातृ सत्ता की प्रतीक हैं। तरुणी एवं सौंदर्यमयी होते हुए भी उन्हें कुदृष्टि से नहीं देखा जाता, वरन् पवित्रता की मान्यता विकसित करते हुए उन्हें श्रद्धापूर्वक नमन–वंदन ही किया जाता है। नारी मात्र के प्रति प्रत्येक साधक की मान्यताएँ, इस स्तर की विनिर्मित–विकसित होनी चाहिए।

पूजा–अर्घ्य में जल, अक्षत, पुष्प, चंदन, धूप, दीप, नैवेद्य आदि को सँजोकर रखा जाता है। इसका तात्पर्य उन माध्यम संकेतों को ध्यान में रखते हुए अपनी रीति–नीति का निर्धारण करना है। जल का अर्थ है–शीतलता। हम शांत, सौम्य और संतुलित रहें। धूप के पीछे दिशा निर्देशन यह है कि हम वातावरण को सत्प्रवृत्तियों से भरा–पूरा सुगंधित बनाएँ। दीपक का संकेत है कि ज्ञान का प्रकाश व्यापक बनाने के लिए हम अपने साधनों विभूतियों में से कुछ भी उत्सर्ग करने के लिए तैयार रहें। चंदन अर्थात् समीपवर्तियों को अपने जैसा सुगंधित बना लेना। काटे, घिसे जाने जैसी विकट परिस्थितियाँ आने पर भी प्रमुदित करने वाले स्वभाव को न छोड़ें। पुष्प अर्थात् हँसते–हँसाते, खिलते–खिलाते रहने की प्रकृति अपना लेना। अक्षत

अर्थात् अपने उपार्जन का एक अंश दिव्य प्रयोजनों के लिए नियोजित करने में अटूट निष्ठा बनाए रखना, उदार बने रहना आदि। भगवान को इन वस्तुओं की कोई आवश्यकता पड़ रही हो, ऐसी बात नहीं है। इन प्रतीक–समर्पणों के माध्यम से हम अपने को ही प्रशिक्षित करते हैं कि देवत्व के अवतरण हेतु व्यक्तित्व को पात्रता से सुसज्जित रखें।

गार्ड, लाल और हरी झंडियाँ दिखाता है। यों रंगों का अपना कोई महत्त्व नहीं, पर झंडियाँ देखने पर जो खड़ा होने और चल पड़ने का संकेत मिलता है, उसी को समझने और क्रियान्वित करने पर रेल व्यवस्था बन पड़ती है। उपासनापरक क्रिया–कृत्यों में, भगवान को रिझाने–फुसलाने या पात्रता प्रदर्शित किए बिना, पुरुषार्थ अपनाए बिना मनचाही कामनाएँ पूरी करा लेने जैसा कुछ भी सन्निहित नहीं है। आमतौर से लोग भ्रम में ही उलझे रहते हैं। फसल काटने के लिए बीज बोने–सींचने के बिना काम चलता ही नहीं, फिर चाहे अनुनय–विनय जैसी कुछ भी उछल–कूद क्यों न की जाती रहे।

उपासना–ध्यान–धारणा का स्वरूप और मर्म :

पूजा–विधि में प्रज्ञा परिवार के परिजन आमतौर से अपनी–अपनी रुचि और सुविधा के अनुरूप जप, ध्यान और प्राणायाम का अवलंबन अपनाते हैं। इन तीनों का प्राण–प्रवाह तभी वरदान बन कर अवतरित होता है, जब इन तीनों के पीछे अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई प्रेरणाओं को अपनाया जाए।

नाम जप का तात्पर्य है–जिस परमेश्वर को–उसके विधान को आमतौर से हम भूले रहते हैं, उसको बार–बार स्मृति पटल पर अंकित करें, विस्मरण की भूल न होने दें। सुर–दुर्लभ मनुष्य जीवन की महती अनुकंपा और उसके साथ जुड़ी हुई स्रष्टा की आकांक्षा को समझने, अपनाने की मानसिकता बनाए रहने का नित्य प्रयत्न करना ही नाम–जप का महत्त्व और माहात्म्य है। साबुन रगड़ने से शरीर और कपड़ा स्वच्छ होता है। घिसाई–रंगाई करने से निशान पड़ने और चमकने का अवसर मिलता है। जप करने वाले अपने व्यक्तित्व को इसी आधार पर

विकसित करें।

ध्यान जिनका किया जाता है, उन्हें लक्ष्य मानकर तद्रूप बनने का प्रयत्न किया जाता है। राम, कृष्ण, शिव आदि की ध्यान–धारणा का यही प्रयोजन है कि उस स्तर की महानता से अपने को ओत–प्रोत करें। परिजन प्रायः गायत्री मंत्र का जप और उदीयमान सूर्य का ध्यान करते हैं। गायत्री अर्थात् सामूहिक विवेकशीलता। इस प्रक्रिया से अनुप्राणित होना ही गायत्री जप है। सूर्य की दो विशेषताएँ सुपरिचित हैं–एक ऊर्जा, दूसरी आभा। हम ऊर्जावान अर्थात् प्रगतिशील, पुरुषार्थ परायण बनें। ज्ञान रूपी प्रकाश से सर्वत्र प्रगतिशीलता का, सत्प्रवृत्तियों का विस्तार करें। स्वयं प्रकाशित रहें, दूसरों को प्रकाशवान बनाएँ। गर्मी और आलोक की आभा जीवन के हर क्षण में, हर कण में ओत–प्रोत रहे, यही सूर्य ध्यान का मुख्य प्रयोजन है। ध्यान के समय शरीर में ओजस्, मस्तिष्क में तेजस् और अंतःकरण में वर्चस् की अविच्छिन्न वर्षा जैसी भावना की जाती है। इस प्रक्रिया को मात्र कल्पना–जल्पना भर मानकर छोड़ नहीं दिया जाना चाहिए, वरन् तद्नुरूप अपने आप को विनिर्मित करने का प्रयत्न भी प्राण–पण से करना चाहिए।

प्राणायाम में नासिका द्वारा ब्रह्मांडव्यापी प्राण–तत्त्व को खींचने, धारण करने और घुसे हुए अशुभ को बुहार फेकने की भावना की जाती है। संसार में भरा तो भला–बुरा सभी कुछ है, पर हम अपने लिए मात्र दिव्यता प्राप्ति को ही उपयुक्त समझें। जो श्रेष्ठ–उत्कृष्ट है, उसी को पकड़ने और सत्ता में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करें। नितांत निरीह, दुर्बल, कायर–कातर न रहें, वरन् ऐसे प्राणवान बनें कि अपने में और संपर्क क्षेत्र में प्राण–चेतना का उभार–विस्तार करते रहने में संलग्न रह सकें।

जप, ध्यान और प्राणायाम की क्रिया–प्रक्रिया, साधक बहुत दिनों से अपनाते चले आ रहे हैं। कुछ शंका हो, तो निकटवर्ती किसी जानकार से पूछ कर उस कमी को पूरा किया जा सकता है। अपने सुविधानुसार समय एवं कृत्य में आवश्यक हेर–फेर

भी किया जा सकता है, परंतु यह नहीं भुलाया जाना चाहिए कि प्रत्येक कर्मकांडों के पीछे आत्मविकास एवं समाज उत्कर्ष की जो अभिव्यंजनाएँ भरी पड़ी हैं, उन्हें प्रमुख माना जाए और लकीर पीटने जैसी नहीं, वरन् प्रेरणा से भरी–पूरी मानसिकता को उस आधार पर समुन्नत–परिष्कृत किया जाए।

एक प्रचलन साधना के साथ यह भी जुड़ा हुआ है कि गुरुवार को हल्का–भारी उपवास किया जाए और ब्रह्मचर्य पाला जाए। दोनों के पीछे संयम साधना का तत्त्वज्ञान समाविष्ट है। इंद्रिय संयम, समय संयम, अर्थ संयम और विचार संयम वाली प्रक्रिया यदि बढ़ने, फलने–फूलने दी जाए, तो वह उपर्युक्त चतुर्विध संयमों की पकड़ अधिकाधिक कड़ी करते हुए साधकों को सच्चे अर्थों में तपस्वी बनने की स्थिति तक घसीट ले जाती है। ओजस्वी, तेजस्वी, मनस्वी बनने के त्रिविध लक्ष्य प्राप्त करने के लिए किए गए प्रयत्नरतों को ही सच्चे अर्थों में तपस्वी कहते हैं। तप की दिव्य शक्ति सामर्थ्य से अध्यात्म क्षेत्र का हर अनुयायी भली प्रकार परिचित एवं प्रभावित होना चाहिए।

स्नान, भोजन, शयन, मल–विसर्जन आदि नित्य कर्मों की तरह ही, उपासना–आराधना के लिए भी कुछ समय नित्य रहना चाहिए, ताकि जीवन–लक्ष्य को हृदयंगम किए रहने में विस्मरण या प्रमाद उत्पन्न न होने पाए। प्रातःकाल आँख खुलते ही नया जन्म होने जैसी भावना की जाए और आज की अवधि को समग्र जीवन मानते हुए इस प्रकार की दिनचर्या बनाई जाए कि समय, श्रम, चिंतन और व्यवहार में अधिकाधिक उत्कृष्टता का समोवश होता रहे। प्रातःकाल बनी उसी रूपरेखा के अनुरूप वह दिन बिताया जाए, ताकि प्रमाद और भटकाव की कहीं गुंजायश न रहे। इसी प्रकार रात्रि को सोते समय एक दिन के जीवन का अवसान होते हुए मानना चाहिए और उस दिन के क्रियाकलापों की ऐसी कठोर समीक्षा करनी चाहिए कि बन पड़े व्यतिक्रमों का दूसरे दिन प्रायश्चित्त किया जा सके और अगले दिन अधिक सतर्कतापूर्वक अधिक शालीनता का उपक्रम अपनाया जा सके।

दान, पुण्य, तीर्थयात्रा, परमार्थ जैसे धर्म कार्यों के लिए अंतराल में मंद या तीव्र उमंग रहती है। इसे भी ईश्वर का संकेत, मार्गदर्शन एवं परामर्श मानकर अपनाने के लिए कुछ न कुछ प्रयत्न करना ही चाहिए। समय के अनुरूप इन सभी का समन्वय 'विवेक–विस्तार' की एक ही प्रक्रिया में केंद्रित हो जाता है। ज्ञानयज्ञ, विचार क्रांति या लोकमानस का परिष्कार, सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन आदि नामों से इन्हें ही प्रतिपादित किया जाता है। समय की पुकार, विश्वात्मा की गुहार भी इसी को कह सकते हैं। भ्रष्ट चिंतन और दुष्ट–आचरण ने ही असंख्य समस्याओं और संकटों के घटाटोप खड़े किए हैं। इन सबका निवारण, निराकरण मात्र एक ही उपाय उपचार से संभव हो सकता है कि दूरदर्शी विवेकशीलता को जनमानस में उभारने का प्रयत्न किया जाए। चिंतन, चरित्र एवं व्यवहार में उत्कृष्टता का अभिवर्द्धन, अंतःकरण में भाव–संवेदना जगाने से ही संभव हो सकता है। यही अपने समय का युग धर्म है। कोई चाहे, तो महाकाल की चुनौती अथवा दिव्य सत्ता का भाव भरा आह्वान भी उसे कह सकते हैं।

प्रस्तुत अनुपम सुयोग का लाभ उठाएँ :

इस प्रयोजन में किस मनःस्थिति और किस परिस्थिति का व्यक्ति क्या करे ? इसका व्यावहारिक मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए शांतिकुंज में निरंतर चलते रहने वाले नौ दिन के साधना सत्रों में से हर साल एक बार या कम से कम दो वर्ष में एक बार हरिद्वार जा पहुँचने की योजना बनानी चाहिए। इस उपक्रम को बैटरी चार्ज करने या बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप नया प्रकाश, नया मार्गदर्शन मिलते रहने जैसा सुयोग समझा जा सकता है। आत्मपरिष्कार के लिए यह विधा कारगर सिद्ध होती देखी गई है।

जिन्हें देवालय, धर्मशाला, सदावर्त, प्याऊ जैसे परमार्थ प्रयोजन चलाने की इच्छा हो, उनके लिए अत्यंत दूरदर्शिता से भरापूरा हाथों–हाथ सत्परिणाम उत्पन्न करने वाला एक ही परमार्थ हर दृष्टि से उपयुक्त दीखता है कि वे "चल ज्ञान

मंदिर'' का निर्माण कर सकने जैसा प्रयास जुटाएँ। ''ज्ञानरथ'' के रूप में इसकी चर्चा आमतौर से होती रहती है।

साइकिल के या ठोस रबड़ के चार पहियों पर मंदिरनुमा आकृति की इस धकेल गाड़ी में टेपरिकार्डर एवं लाउडस्पीकर फिट रहने के कारण उसे जहाँ कहीं भी ले जाया जाए, वहीं संगीत सम्मेलन एवं प्राणवान संक्षिप्त धर्म प्रवचनों की शृंखला चल पड़ती है। नुक्कड़ सभा जैसा जुलूस, प्रभातफेरी जैसा माहौल बन जाता है। इसी में इक्कीसवीं सदी की प्रेरणाओं से भरापूरा सस्ता किंतु युग धर्म का पक्षधर साहित्य भी रखा रहता है, जिसे बिना मूल्य पढ़ने देने और फिर बाद में वापस लेने का सिलसिला चलता रह सकता है। जिनका कुछ खरीदने जैसा आग्रह हो, उन्हें उपलब्ध साहित्य बेचा भी जा सकता है।

ऐसे चल ज्ञान मंदिर विनिर्मित करने में प्रायः एक तोले सोने के मूल्य जितनी लागत आती है, जिसे कोई एक या कुछ लोग मिलकर सहज ही जुटा सकते हैं।

असहयोग आंदोलन के दिनों काँग्रेस के मूर्धन्य नेता, खादी प्रचार की धकेल गाड़ियाँ लेकर निकलते थे और संपर्क में आने वालों को उद्देश्य समझाते हुए पूरे उत्साह के साथ खादी प्रचार में संलग्न रहते थे। आज की परिस्थितियों के अनुरूप 'चल ज्ञान मंदिर' को स्वयं घुमाते हुए वैसा ही पुण्य लाभ प्राप्त किया जा सकता है, जैसा कि विशेष पर्वों पर भगवान का रथ खींचने वाले भक्तजन अपने को पुण्यफल का अधिकारी हुआ मानते हैं। अपने मिशन ने पिछले दिनों २४०० से अधिक प्रज्ञापीठें खड़ी की हैं। अब उससे भी कई गुने ''चल ज्ञान मंदिर'' बनाने–बनवाने की योजना है। इसे गाँव, मुहल्लों में नव जागरण का अलख जगाने के सदृश्य युग परिवर्तन का शंखनाद स्तर का उद्घोष जैसा समझा जा सकता है।

भगवान से अनुनय–विनय करने की कामना भरी पूजा–अर्चना भी चिरकाल से होती चली आ रही है। अब इन दिनों एक विशेष अवसर है कि आपत्तिकालीन परिस्थितियों में भगवान की पुकार पर ध्यान दिया जाए और मनमर्जी छोड़कर महाकाल

के आमंत्रण पर उसी के सुझाए मार्ग पर चल पड़ा जाए। हनुमान और अर्जुन ने यही किया था। शिवाजी, प्रताप, चंद्रगुप्त, विवेकानंद, विनोबा आदि से कितनी पूजा–अर्चा बन पड़ी ? इस संबंध में तो कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता, पर इतना सर्वविदित है कि उसने दिव्य चेतना के आह्वान को सुना और तदनुरूप कार्यरत हो गए। संभवतः उनकी पूजा–उपासना की आवश्यकता उनके इष्टदेव ने स्वयं कर ली होगी और अभीष्ट वरदानों से इन सच्चे साधकों को निहाल कर दिया होगा। हम भी उन्हीं का अनुकरण करें, तो इसमें तनिक भी हर्जा होने या घाटा होने या घाटा पड़ने जैसा कुछ भी नहीं है।

इन दिनों दिव्य चेतना, सेवाभावी सज्जनों के समुदाय को अधिक विस्तृत करने में जुट गई है। युग का मत्स्यावतार इन्हीं दिनों अपने कलेवर को विश्वव्यापी बनाने के लिए आकुल–व्याकुल है। अच्छा हो, हम उसी की महती योजना में भागीदार बनें और अपनी मर्जी की पूजा–उपासना करके मनचाहे वरदान की विडंबना पर अंकुश ही लगाए रखें।

अपेक्षा की गई है कि इन पंक्तियों के पाठक, नर–पामरों से ऊँचे उठकर, विचारशीलता की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत बन चले होंगे। वे एक से पाँच, पाँच से पच्चीस, पच्चीस से एक सौ पच्चीस वाली गुणन प्रक्रिया अपनाकर, चार और साथी ढूँढ़ें तथा उन्हें अपने प्रयोजनों में सहभागी बनाकर युग मानवों का एक पंचायतन विनिर्मित करें। समयदान और अंशदान करते रहने के लिए उन्हें भी अपनी जैसी कर्म पद्धति अपनाने के लिए सहमत करें। करने का तो एक ही कार्य है–''विवेक–विस्तार''। इसके कितने ही कार्यक्रम बन चुके हैं। इनमें से कुछ भी अपनी इच्छानुसार अपनाया जा सकता है। आत्मपरिष्कार, सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के अतिरिक्त इन दिनों जिस पुण्य–प्रक्रिया को उतने ही उत्साह से अपनाया जाना है, वह है–एक से पाँच की रीति–नीति अपनाते हुए समस्त विश्व को नव जीवन की विचारधारा से अनुप्राणित करना। इसी क्रम में अपने जीवन का असाधारण परिष्कार और विकास भी सुनिश्चित रूप से हो सकेगा। □

युग निर्माण मिशन-संक्षिप्त परिचय

उद्देश्य : मनुष्य में देवत्व का उदय एवं धरती पर स्वर्ग का अवतरण। व्यक्ति निर्माण, परिवार निर्माण, समाज निर्माण। विचारक्रांति, नैतिक क्रांति, धार्मिक क्रांति एवं सामाजिक क्रांति द्वारा जनमानस का भावनात्मक परिष्कार।

गठन : नव निर्माण के लिए तत्पर नित्य समय दान और अंश दान करने वाले लाखों कर्मनिष्ठों का पारिवारिक संगठन। प्रचारात्मक, रचनात्मक और सुधारात्मक कार्यक्रमों द्वारा मानवीय गरिमा को उभारने वाली गतिविधियों में संलग्न समुदाय।

आधार : सदस्यों का दैनिक श्रमदान एवं अंशदान। नित्य ५० पैसा और २ घण्टे समय का नियमित अनुदान। इसी सामर्थ्य के बलबूते अनेकों महत्त्वपूर्ण गतिविधियों का गत ५० वर्षों से संचालन।

प्रमुख संस्थान : (१) गायत्री तपोभूमि, मथुरा (२) अखण्ड ज्योति कार्यालय, मथुरा (३) गायत्री शक्तिपीठ, आंवलखेड़ा, आगरा (४) शांतिकुंज, हरिद्वार (५) ब्रह्मवर्चस्, हरिद्वार। भारत एवं विदेश में लगभग ४००० शक्तिपीठ, प्रज्ञापीठ एवं गायत्री परिवार की शाखाओं द्वारा प्रचार प्रसार।

प्रकाशन : युग निर्माण योजना (हिन्दी मासिक), युग शक्ति गायत्री (गुजराती मासिक), अखण्ड ज्योति मासिक एवं अन्य कई पत्रिकाएँ भारत की विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित। विभिन्न विषयों पर पूज्य गुरुदेव द्वारा रचित लगभग ५०० पुस्तकों का प्रकाशन देश की विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में।

गतिविधियाँ एवं प्रचार : धर्म तंत्र से लोकशिक्षण, अग्नि साक्षी में सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने के संकल्प, युग निर्माण विद्यालय, मथुरा, नौ दिवसीय साधना सत्र एवं एक मासीय **युग शिल्पी सत्रों** का नियमित आयोजन। टोलियों द्वारा देश-विदेश में मिशन का प्रचार-प्रसार।

कार्यक्षेत्र : समस्त भारतवर्ष एवं विश्व।